

आदिवासियों का शोषण अब बर्दाश्त नहीं : मनमोहन

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने कहा है कि आदिवासियों का शोषण अब और बर्दाश्त नहीं। बर्दाश्त नहीं है तो पहले क्यों बर्दाश्त था ?

या इस सच की जानकारी उन्हें नहीं थी कि जंगलों-पहाड़ों में आदिवासी भी रहते हैं जिनकी जीवन परिस्थितियां अत्यंत ही विकट हैं। समझ में यह नहीं आता कि सैंकड़ों वर्षों से शोषण-उत्पीड़न के शिकार इन आदिवासियों के बारे में प्रधानमंत्री को यह बोलने की आवश्यकता क्यों पड़ गई ? यह आवश्यकता उन्हें तब पड़ गई जब प्रधानमंत्री ने वन्य अधिकार अधिनियम के क्रियान्वयन की समीक्षा के लिए दिल्ली में आयोजित दो दिवसीय सेमिनार का उद्घाटन करने आये थे। प्रधानमंत्री को अब तक तो आदिवासियों का शोषण बर्दाश्त था। उन्हें ही क्यों, देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं.जवाहरलाल नेहरू को भी यह बर्दाश्त था, इंदिरा गांधी ने भी इसे बर्दाश्त किया और उनके सुपुत्र राजीव ने भी। बीच में कुछ अंतरालों के लिए जब अन्य क्षणजीवी सरकारों के अलावा भाजपा गठबंधन की सरकार आई तो अटलबिहारी वाजपेयी ने भी नहीं कहा कि उन्हें आदिवासियों का शोषण बर्दाश्त नहीं है। आडवाणी और राजसत्ता के अन्य संचालकों ने भी यह नहीं कहा कि उन्हें यह शोषण बर्दाश्त नहीं है। और तो और, आदिवासी मतों से विजयी होकर आये आदिवासी सांसदों और मंत्रियों तक ने भी ऐसा नहीं कहा, फिर मनमोहन सिंह ही आदिवासियों के शोषण को लेकर परेशान क्यों हैं ?

क्या इसलिए कि अब आदिवासियों ने तीर-कमान के साथ हाथों में बंदूक उठा ली है ? आदिवासियों की समझ में यह आ गया है कि उनका शोषण कैसे हो रहा है, उनका शोषण करने वाले कौन-से लोग हैं और उनका सामना कैसे किया जा सकता है। वे समझ चुके हैं कि उनका सामना बिना हथियार उठाये नहीं किया जा सकता। आदिवासी पहले से ही इस बात को जानता-समझता है। हथियार उठाना उसने पहले से ही सीख रखा है। उसने देशी शासकों के अलावा अंग्रेजों के खिलाफ भी हथियार उठाया। बार-बार उठाया और जंगलों एवं पहाड़ों से अपना कब्जा छोड़ा नहीं। प्रधानमंत्री ने भारत के स्वतंत्रता संग्राम के बारे में संक्षेप में भी पढ़ा हो तो उन्हें पता चल जायेगा कि आदिवासी जब हथियार उठा लेते हैं तो किसी भी हद तक चले जाते हैं। आजादी के लिए अपना खून बहाना उनके लिए बहुत बड़ी बात नहीं है।

अंग्रेजों ने ऐसे कानून बना रखे थे जो आदिवासियों को जंगल-पहाड़ों में स्थित उनके घरों से उन्हें विस्थापित करना चाहते थे। जबकि जंगल और पहाड़ से आदिवासी का सिर्फ भौतिक रिश्ता ही नहीं, बल्कि आत्मीयता का रिश्ता है। जंगल के पेड़, पत्थर, जीव और जंतु सब उसके सगे हैं और और उनके बिना आदिवासियों के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसी बात नहीं कि जंगल, जमीन और पहाड़ उन्हें मौरूसी में मिले हैं, बल्कि उनका उस पर नैसर्गिक अधिकार है। वे किसी जागीरदार की धौंस में नहीं रहते, बल्कि सैंकड़ों नहीं हज़ारों हज़ार वर्षों से स्वतंत्र और स्वायत्त जिंदगी बिताते हैं। जब भी उनकी स्वतंत्रता और स्वायत्ता पर कब्जा करने का प्रयास सत्ताधारियों द्वारा किया गया, उन्होंने तीर-कमान लेकर संघर्ष छेड़ दिया और शायद ही कभी पराजित हुए। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने बिरसा मुंडा का नाम जरूर सुना होगा। बिरसा मुंडा नाम बच्चा-बच्चा जानता है। जब उसने अंग्रेजों और उनके सहयोगी सामंतों तत्वों के खिलाफ संघर्ष छेड़ा तो ब्रिटिश सैनिक दहल उठे। पूरी 18वीं सदी और 19वीं सदी का इतिहास आदिवासियों हिंसक संघर्षों

रंग बदलने में दी गिरगिट को भी मात



से भरा पड़ा है।

लेकिन अंग्रेजों ने वन कानून बना कर उन्हें वनों में प्रवेश करने से रोकना चाहा। आदिवासी अभी तक मुद्रा अर्थव्यवस्था के भंवरजाल में नहीं पड़े थे। वे अदला-बदली की व्यवस्था जानते थे। इधर दुष्ट व्यापारी और आदिवासियों के गांवों में रहने वाले बनिये जंगलों के बहुमूल्य उत्पादों को, शहद को, चिरौंजी जैसे मेवा को, कीमती जड़ी-बूटियों को सामान्य चीजों से बदल लेते थे। साथ ही, उनकी बहन-बेटियों पर भी गंदी नज़र रखते थे। सामंती किस्म के लोग बीड़ी पत्ते के ठेके लेते थे और इस काम में भारी पैमाने पर आदिवासियों को लगाया जाता था, पर उनके श्रम का न के बराबर मूल्य दिया जाता था। महुआ जैसा फल गैरआदिवासी अथवा उनके गांवों में रहने वाले बनिये कौड़ियों के मोल झटक लेते थे।

धीरे-धीरे धर्मप्रचार अभियान के तहत विदेशी मिशनरीज यहां आने लगे और इन पिछड़े इलाकों को अपना ठिकाना बनाने लगे। यहां उन्होंने स्कूल खोले, सामान्य चिकित्सा केंद्र की व्यवस्था की, इससे आदिवासियों के बच्चों को अक्षर ज्ञान हुआ और आगे चल कर वे दुनिया को देख-समझ सकते थे। जहां तक ईसाई बनने का सवाल था तो इसमें एतराज का कोई सवाल ही नहीं था, क्योंकि ये पहले भी हिंदू या इस्लाम धर्म नहीं मानते थे। वे पेड़ों-पत्थरों की पूजा करते थे और इस तरह उनका धर्म आदिकालीन था। ईसाई मिशनरियों के आने से वे पढ़ने-लिखने लगे और चाहे जिस स्तर पर ही सही, उन्हें स्वास्थ्य सेवा भी मिलने लगी। लेकिन इसका संबंध उनके शोषण से नहीं था। आदिवासी शोषण एवं अन्याय के हर स्तर पर खिलाफ थे।

जब देश आजाद हुआ तो आदिवासियों के नेताओं को यह लगा कि अब तो जंगल, जमीन और पहाड़ पर उनका हक हो गया। यह मात्र उनका भ्रम साबित हुआ। अंग्रेजों के बनाये काले कानून अभी तक प्रभावी थे। आदिवासी पहाड़ में

बड़ी ही मुश्किलों का सामना करते हुए थोड़ा-बहुत अनाज पैदा कर लेते थे, लेकिन उनकी आजीविका का मुख्य आधार जंगलों में मिलने वाली चीजें ही थीं। अगर इन चीजों पर इनका अधिकार नहीं होता तो इनके लिए अपने अस्तित्व को बनाये रखना कठिन हो जाता।

बहरहाल, आदिवासी वनोपज पर अपने अधिकार के लिए संघर्ष करते रहे, लेकिन वन विभाग के अधिकारी इन्हें जंगल से एक सूखी लकड़ी लेने के जुर्म में फंसाता रहा। इनका कभी भी कोर्ट-कचहरियों से साबका नहीं पड़ा था। ये परेशान हो गये। जंगल से महुआ चुन लिया तो मुकदमा, खाने को साग ले लिया तो मुकदमा जबकि यही सब इनके जीने का आधार था। आजादी के बाद हर जगह सरकार ने अपनी प्रशासनिक इकाइयां बनाई। जंगल विभाग भी बना। इस विभाग के अधिकारियों ने जंगलों में जम कर लूट मचाई। केंद्र पत्ते की ठेकेदारी को लेकर जो बोलियां लगती थीं, उनमें वन अधिकारी की सांठगांठ होती थी।

पत्ते चुनने का काम आदिवासियों को बहुत ही कम मजदूरी पर दिया जाता था। पर न्यूनतम मजदूरी पर काम करने के सिवा आदिवासी औरतों के अलावा और कोई विकल्प भी नहीं था। जंगलों-पहाड़ों में बसे गांवों में रहने वाले आदिवासियों से वहां प्रकृति प्रदत्त उपहारों को ग्रहण करने का अधिकार कानून बना कर छीन लिया गया था। और यह कानून बनाया था किसने ? यह कानून देश को गुलामी की जंजीरों में जकड़ने वाले अंग्रेजों ने बनाया था। कानून का वही सोटा आजाद देश के शासक भी उन पर चला रहे थे। और आदिवासी मजबूर थे। आखिर जंगल ही उनका घर था, वे वहां से कहां जाते ? पहले इन पर इलाके के जागीरदार का सोटा चलता था, अब इन पर जागीरदार के साथ ही सरकारी कारिन्दे का भी सोटा चलने लगा। ये शोषण की दोहरी चक्की में पिसने लगे।

लगभग डेढ़ दशक पहले इन पंक्तियों

के लेखक को सरगुजा के जंगलों में स्थित गांवों में जाने का मौका मिला था। उस समय छत्तीसगढ़ नहीं बना था। वहां उनके गांव में घर बड़े ही साफ-सुथरे और बेहतरीन थे। मिट्टी के मकान दूर-दूर पर स्थित थे। पानी का कोई टोटा नहीं था। पहाड़ी नदी में स्नान और पीने के लिए गहरे कुएं का पानी। दिक्कत बस थी काम की, नकदी की दिक्कत थी जिससे वे अनाज और दूसरी छोटी-मोटी चीजें खरीद सकें। पैसा तब मिल सकता था, जब उन्हें मजदूरी मिले और अक्सर मजदूरी नहीं मिल पाती थी। जिस दौरान यह संवाददाता वहां गया था, महुये की फ़सल तैयार थी। सवेरा होते ही महुये के दरख्तों के नीचे हल्के पीले रंग का महुआ ज़मीन पर फैला रहता था। और आदिवासी लड़कियां उन्हें चुनने में लगी रहतीं। महुये के फल को पका कर खाना बहुत अच्छा लगता। आदिवासी युवतियां बड़े ही प्यार से आग पर पका हुआ महुआ किसी पत्ते पर खाने को देती थीं। आदिवासी युवतियां महुये को बड़े जतन के साथ सुखातीं हैं। महुआ भुन कर खाने के काम में आता है और उसकी शराब बनाई जाती है जो आदिवासी समाज में काफी प्रचलित है। आदिवासियों की संस्कृति में अतिथि-स्वागत का बहुत ही महत्व है। यद्यपि अतिथियों को खिलाने-पिलाने की चीजें उनके पास नहीं के बराबर होती हैं, पर हर हाल में वे अतिथियों का स्वागत करते हैं। झाड़ू-फूंक, टोना-टोटका आदि पर उनका विश्वास है, पर नई पीढ़ी के लोग जो बाहर मजदूरी करने जाते हैं, वे इन अंधविश्वासों से कुछ दूर हो रहे हैं।

आदिवासी कड़ा श्रम करते हैं और पूरी तरह ईमानदार होते हैं। पर इन्हें भी जब महानगरों की हवा लग जाती है तो वे उस रंग में भी ढल जाते हैं। बहुत-सी आदिवासी युवतियां भी अब मजदूरी करने बड़े-बड़े शहरों में ठेकेदारों के माध्यम से ले जाई जाने लगी हैं। वहां उनसे तरह-तरह का काम लिया जाता है और बहुतों को तो देह-व्यापार में झोंक दिया जाता है। ऐसे भी देह-व्यापार करना उनकी मजबूरी है।

सरकार ने हर दो-चार पंचायत पर ब्लॉक बनवा दिये हैं तथा अधिकारियों व कर्मचारियों के निवास के लिए वहां घर भी बनवा दिया है। वहां रहने वाले अधिकारी-कर्मचारी परिवार नहीं रखते। पूछने पर निर्लज्ज भाव से कहते हैं कि यहां परिवार रखने की क्या जरूरत है। परिवार का सारा काम तो ये आदिवासी युवतियां ही कर देती हैं। सस्ता भी पड़ता है। यहीं ज़मीन भी खरीद ली है। कुछ पैदा हो ही जाता है। ट्रांसफ़र होने पर ज़मीन आसानी से बिक जाती है। हमने जब कहा कि आदिवासियों की ज़मीन आदिवासी ही खरीद सकता है तो इस पर वे काफ़ी हंसे। कहा- सारा इंतज़ाम हो जाता है। उन्होंने कहा - तुम भी रहो बाबू साहब। मजे ले लो। इसी प्रकार जिस गांव में यह संवाददाता ठहरा हुआ था, एक बार इस संवाददाता ने एक औरत को पेड़ पर चढ़ कर पत्ते तोड़ते देखा। मैंने एक व्यक्ति से पूछा कि इन पत्तों का वह क्या करेगी ? उसने सहज भाव से बताया कि इसका वह साग बना कर खायेगी। तब मैंने महसूस किया कि यह है भूख की प्रचंड आग जो उन्हें देह-विक्रय से लेकर हर तरह के निकृष्ट कार्यों को करने पर मजबूर कर देती है।

हमने आज तक वरिष्ठ पत्रकार रामशरण जोशी का वह आत्मस्वीकार नहीं भूला है जो प्रतिष्ठित पत्रिका 'हंस' में छपा था और जोशी ने साफ-साफ कहा था कि धुंधलका छाते ही वे और उनके शोधकर्मी मित्र जिस्मों का शिकार करने के लिए निकल पड़ते थे बस्तर के किसी ग्रामीण इलाके में। उन्होंने वर्णन किया था कि बड़ी ही सहजता के साथ 20 से 25 रुपये में रात भर के लिए औरत मिल जाया करती थी और वहां शोध यात्रा के दौरान उन्होंने और उनके मित्र ने गर्म गोश्त का जम कर आनंद लिया। हद तो यह हो गई कि बस्तर ज़िले के कलेक्टर जो उनके मित्र थे, उन्हें भी आदिवासी युवतियां उपलब्ध कराईं। उन्होंने लिखा है कि जिस्म खरीदने के लिए उनके सामने एक सद्यप्रसूता युवती संभोग के लिए गिड़गिड़ाने लगी और उन्होंने उसके स्तनों को जब मुंह में भरा तो दूध निकल पड़। यह तो तब की बात है जब वहां जाने वाले लोगों को आदिवासी औरतों को देह नसीब होती थी, आज तो बड़े पैमाने पर आदिवासी युवतियां नौकरी दिलाने के नाम पर जंगल-पहाड़ों से महानगरों में लाई जा रही हैं। ज्यादातर तो कोठों पर जिस्मफरोशी के लिए बेच दी जाती हैं। जिन्हें नौकरानियों के रूप में घरों में काम मिलता है, उनकी स्थिति भी अच्छी नहीं होती। क्या प्रधानमंत्री कभी आदिवासी जीवन को निकट से देख सकते हैं ? प्रधानमंत्री ने माना है कि आदिवासियों के साथ अन्याय हुआ है। अन्याय हुआ है तो अब न्याय कर। इसमें दिक्कत और परेशानी क्या है ? परेशानी है। आदिवासियों के हक की बात करने वालों ने निःशस्त्र होकर जहां वार्ता का मार्ग अपनाया, उनका बुरा हाल कर दिया जायेगा। आदिवासी तो समय की मांग के अनुरूप हथियारबंद हुए हैं, पर मनमोहन सिंह की फ़ौज हर वक्त दिन-रात हथियाबंद रहती है। ऐसे भी भारतीय सेना के समक्ष हथियारबंद आदिवासी इतने कम हैं कि राज्य को कोई खतरा नहीं पहुंचा सकते। फिर इनसे निःशस्त्र होकर वार्ता की मेज पर आने को क्यों कहा जा रहा है ? वार्ता से आदिवासियों और अन्य शोषित वर्गों की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। हैदराबाद में तो नक्सलियों और राज्य के प्रतिनिधियों के बीच वार्ता हुई थी, उसका क्या परिणाम निकला, इसे दोनों पक्षों के वार्ताकारों को सोचना चाहिए। देने से कोई चीज नहीं मिलती। उसे ताकत के जोर पर काबू करना पड़ता है।

■ मनोज कुमार झा